विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
प्राचीन उपासना परंपरा और प्रतिमाएँ
सत्यप्रकाश मालवीय

पृष्ठ क्र. 3-4
भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण
चन्द्रशेखर जोशी

पृष्ठ क्र. 5-6
वैदिक साहित्य में कृषि विज्ञान
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 7
भरत पुत्र 'तक्ष' का नगर 'तक्षशिला'
राजेन्द्र शर्मा

पृष्ठ क्र. 8
मानव सभ्यता और अस्त्र-शस्त्र
मिथिलेश यादव

प्राचीन उपासना परंपरा और प्रतिमाएँ

सत्यप्रकाश मालवीय

'प्रतिमा' शब्द देवविशेष, व्यक्तिविशेष अथवा पदार्थविशेष की प्रतिकृति, बिंब, मूर्ति अथवा आकृति सभी का बोधक है। परंतु यहाँ पर प्रतिमा से तात्पर्य भक्तिभावना से भावित देवविशेष की मूर्ति अथवा देवभावना से अनुप्राणित पदार्थविशेष की प्रतिकृति से है। किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या वस्तु की तथैव अथवा काल्पनिक प्रतिकृति जो मिट्टी या पत्थर में बनाई जाए प्रतिमा कहलाती है। प्रतिमा बनाने वाले को मूर्ति शिल्पी कहते हैं और प्रतिमा बनाने के काम को मूर्ति शिल्प कहा जाता है। मंदिरों में पूजा के लिए इनकी स्थापना होती है तथा घर नगर और संस्थानों में सुंदरता के लिए इन्हें स्थापित किया जाता है। देवी देवताओं और प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। इस परिभाषा से प्रतिमापूजा पर अनायास ध्यान जाता है। पहले लोग प्रकृतिपूजक थे उसमें वृक्षपूजा, पर्वतपूजा, नदीपूजा, आदि आती हैं। हमारे देश में पूजापरंपरा में दो महान् प्रसार हुए– एक वैदिक दृष्टि तथा दूसरा पौराणिक पूर्त। इसी को इष्ट पूर्त कहते हैं जिसके द्वारा भारतीय जनता का योगक्षेम वहन होता आया है।

प्राचीन वैदिक कर्मकांड– यज्ञवेदी, यजमान, पुरोहित, बलि, हव्य, हवन एवं देवता तथा त्याग आदि के बृहत् उपबृंहण के अनुरूप ही देवार्चा में अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक के नाना संभार, प्रकार एवं कोटियाँ पल्लवित हुईं। अर्चा के सामान्य षोडशोपचार एवं विशिष्ट चतुष्षष्ठि उपचार, आर्च्य देवों के विभिन्न वर्ग–महादेव, विष्णु, देवी, सूर्य, नवग्रह आदि–तथा अर्चकों की विभिन्न श्रेणियाँ इन सभी की समीक्षा हमारे प्रतिमाविज्ञान की पूर्वपीठिका की दशाध्यायी में द्रष्टव्य है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति, पशु, या पक्षी की प्रतिमा प्रतिमा कही जा सकती है परंतु भारत में प्रतिमाविज्ञान एवं प्रतिमा कला या मूर्तिकला का जन्म तथा विकास एवं प्रोल्लास देवार्चा से पनपा। सभी ध्यानी, योगी, ज्ञानी नहीं हो सकते थे, अतः 'भावना' के लिये प्रतिमा की कल्पना हुई। कालांतर पाकर पौराणिक पूर्तधर्म ने प्रतिमानिर्माण की परंपरा में महान् योगदान दिया। देवमंदिरों के निर्माण में न केवल गर्भगृह के प्रधान देवता के निर्माण की आवश्यकता हुई वरन् देवगृह के सभी अंगों, भित्तियों, शिखरों आदि पर भी प्रतिमाओं के चित्रणों का एक अनिवार्य अंग प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार प्रधान देवों के साथ साथ परिवार देवों तथा भित्तिदेवताओं की भी प्रतिमाएँ बनने लगीं। मंदिर की भित्तियाँ पौराणिक आख्यानों के चित्रणों से भी विभूषित होने लगीं। अतः हिंदू प्रासाद या विमान पुरुषाकार हैं अतः नाना उपलक्षणों, प्रतीकों, की पूर्ति के लिये यक्ष, गंधर्व, किन्नर, कूष्मांड, ऋषिगण, वसुगण, शार्दूल, मिथुन, सुर, सुंदरी, वाहन, आयुध आदि भी चित्रित होने लगे जिनकी प्रतिमाएँ भारतीय मूर्तिकला के समुज्वल निदर्शन हैं। उपासना परंपरा में नाना संप्रदायों, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सोर, बौद्ध, एवं जैन आदि धार्मिक संप्रदायों में अपनी–अपनी धारणाओं के अनुसार प्रतिमा में देवों एवं देवियों के अगणित रूप परिकल्पित किए गए। पुराणों, आगमों, तंत्रों की आधारशिला पर यह वृंहण बहुत आगे बढ़ गया। प्रतिमा विज्ञान के सिद्धांतों का प्रतिपादन करनेवाले विभिन्न ग्रंथों में मत्स्य, अग्नि, स्कंद, लिंग, भविष्य, विष्णु एवं विष्णुधर्मोतर पुराण, आगम आदि। शिल्पग्रंथ जैसे मानसार, मयमत, अगस्त्य–सकला–विकार, काश्यपीय अंशुभद्रादागम, शिल्पराज आदि दक्षिणी ग्रंथ तथा विश्वकर्मा वाजिशास्त्र, समरांगत्रणसूत्रधार, अपराजित पृच्छा, रूपमंडल आदि उत्तरी ग्रंथ, सातवाँ प्रतिष्ठाग्रंथ जैसे हरिभक्तिविलास, अभिलाषितार्थ चिंतामणि, (मानसोल्लास), रघुनंदन, मठप्रतिष्ठा, हेमाद्रिचतुर्वर्ग चिंतामणि कृष्णानंद तंत्रसार आदि विशेष उल्लेख हैं। इन सब ग्रंथों के आलोडन से निम्नलिखित सिद्धांत विशेष निश्चय करने योग्य हैं। शास्त्रीय दृष्टि से चित्र (सांगोपांग) व्यक्ति, चित्रार्ध (अर्धव्यक्ति प्रतिमा) चित्राभास विशेष मौलिक हैं। परंतु विकास की दृष्टि से चला, अचला, इन दो वर्गो का महान प्रसार

सपन्न हुआ। चला प्रतिमाओं में द्रव्यानुषंगत धातुजा (स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, लौह आदि से विनिर्मिता), रत्नजा (मुक्ता, प्रवाल, विद्रुम, स्फटिक, पुष्प, पद्मराव, वैदूर्य आदि रत्नों से निर्मित) शैलजा, (पाषाणी)। काष्ठजा, मृणमयीय गंधजाय कोसुमी आदि नाना उपवर्ग हैं। दक्षिण भारत में इन चला प्रतिमाओं के चार विशेष वर्ग उल्लेखनीय हैं, कौतिक बेर, उत्सव बेर, बलिबेर, तथा स्नपन बेर (बेर का अर्थ प्रतिमा है)। अचला प्रतिमाओं को आगमों में ध्रुवबेर के नाम से उपश्लोकित किया गया है। उनमें तीन वर्ग प्रमुख है– अस्थानक, आसन तथा शयन। पुनः उनके चार उपवर्ग हैं– योग, भोग, वीर तथा आभिचारिक। इन सबको मिलाकर द्वादश ध्रुवबेर परिगणित होते हैं जैसे योगस्थानक, भोगस्थानक, आदि। संप्रदायानुरूप ब्राह्मण, बौद्ध, जैन में प्रतिमा के महावर्ग हैं। केंद्रानुरूप गांधार, मथुरा, उड़ीसा, बंगाल, मध्य भारत, दक्षिण भारत आदि से हम परिचित हैं।

पुनः भावानुरूप शांत, अशांत, सौम्य, एवं असौम्य भी परिगणनीय हैं। देवानुरूप तो अगणित प्रतिमाएँ परिकल्पित हुई। वैष्णव प्रतिमाओं में दशावतार, अंशावतार, आयुध पुरुष, असाधारण, जैसे शेषशायी, तथा वासुदेव, साधारण, चर्तुभुज, अष्टभुज आदि। इसी प्रकार, शैव प्रतिमावृंद भी विशाल हैं। गंगाधर, अर्धनारीश्वर, संहार, दक्षिण, नृत्य आदि। अन्य संप्रदायों जैसे, सौर, गाणपत्य (गणेश एवं कार्तिकेय), शाक्त (देवी, सरस्वती, श्री पार्वती, दुर्गा, चामुंडा, कात्यायनी आदि नाना देवियाँ), बौद्ध (विशेषकर वज्रयान देवबृंद तथा देवीवृंद उसमें भी नाना मिथुन) एवं जैन जैसे तीर्थकर तथा शासन देवियाँ और शासक देव, इन सब का पृथुल प्रोल्लास पनपा। भारतीय प्रतिमाविज्ञान की सबसे बड़ी कसौटी मानयोजना है। 'प्रमाणे स्थापिताः देवारू पूजादृष्टि भवन्ति तेः' मान ही प्रतिमा सौंदर्य का मूलाधार है। अतः प्रतिमाविधान बिना प्रतिमा मान के पंगु है। संयम, नियम, जप, होम आदि की निष्ठा से ही प्रतिमाविधान प्रारंभ होता है। मान के नाना वर्ग हैं। प्रथम पुरुषप्रतिमा के मानाधार पंच पुरुषः हंस, शश, खेचर, भद्र तथा मालव्य माने गए हैं। प्रतिमाविधान में आवश्यक मानप्रक्रिया के नाना मान हैं जैसे मान, प्रमाण, उपमान, उन्मान, लंबमान आदि षड्वर्ग, परंतु यहाँ पर दो विशेष उल्लेख हैं अंगुलमान तथा तालमान। अंगुलमान की उत्पत्ति परमाणु, रज, रोम, लिक्षा, यूका तथा यव के मान पर निष्पन्न होती है। अंगुल के अतिरिक्त दंडादि भी मानाधार हैं, तालमान का आधार सशीर्ष मुखमान है। एक तालादि दशशालांत तालमान परिगणित हैं। इनमें दश तथा नव के उत्तम मध्यम, अधम प्रभेद भी हैं। पुनः किस तालमान से किस देव या देवी की प्रतिमा निर्मित करनी चाहिए यह भी पूर्ण रूप से शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है। विष्णु, ब्रह्मा महादेव की मूर्तियाँ उत्तमदशताल में इसी प्रकार, उमा, सरस्वती, दुर्गा, आदि देवियाँ अधम दशताल में। इसी तरह इंद्रादि लोकपाल, चंद्र, सूर्य, द्वादशादित्य, एकादश रुद्र मध्यम दशताल में निर्मेय हैं। अन्य देवों एवं देवियों के प्रतिमाविधान में भी तालमान पृथक् पृथक संख्या में निर्धारित हैं। रूपसंयोग से तात्पर्य प्रतिमा के आसन, वाहन, आयुध, आभूषण, वस्त्र आदि से है। आसन में पद्मासन, कूर्मासन आदि आसन सामान्य हैं। वाहन में हंस, (हंसवाहन ब्रह्मा) वृषभ आदि से हम परिचित हैं। इसी प्रकार गजवाहन रुद्र, मयूरासन कार्तिकेय, को भी लोग जानते हैं। आयुधों में चक्र, गदा, त्रिशुल आदि नाना आयुध तो सभी ग्रंथों में वर्णित हैं परंतु 'अपराजितपृच्छा' में त्रिंशदायुध लक्षण एतद्विषय की विशेष सामग्री है।

आभूषणों में हार, केयूर, मुकुठ, कौस्तुभ, वनमाला, कुंडल, किरीट, आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। आयुधों एवं आभूषणों के साथ वाद्ययंत्र जैसे वीणा, डमरू, मृदंग, पानपात्र जैसे कपाल आदि भी विशेष परिगणनीय है। पहल के विद्वान् बौद्ध प्रतिमाओं को ही मुद्राओं के निदर्शन मानते थे। हस्तमुद्रा, पादमुद्रा तथा शरीरमुद्रा के ये तीन प्रमुख विभाजन हैं। पताकादि चौसठ मुद्राएँ, जो भरत के नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित हैं, नटराज की प्रतिमाओं में विभाज्य हैं। वैष्णवादि छह पादमुद्राएँ वैष्णव प्रतिमाओं की विशेषता हैं। ऋत्ज्वागतादि नौ शरीरमुद्राएँ सामान्य हैं जो विशेषकर (चित्रजा प्रतिमाओं में हैं)। इसी प्रकार समभंग, आदि शरीरमुद्राएँ भी बड़ी दुष्कर हैं। भारतीय प्रतिमाकला, काव्य, संगीत एवं नाट्य तथा नृत्य के समान मनोरम कला है अतः रसाभिव्यक्ति अनिवार्य है। अतः समरांगण सूत्रधार तथा विष्णुधर्मोतर इन दो अधिकृत ग्रंथों में रसाभिनिवेश पर भी प्रतिपादन है। जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा प्रतिमाविशेष में नाना भावों की अभिव्यक्ति तो हो ही जाती है, रसाभिनिवेश से वह क्रीडा करने लगती है, सजीव हो उठती है। पत्थर में भी जान आ जाती है। चित्र में भी दृश्यभाव का आभास आने लगता है। भारतीय उपमहाद्वीप में कला को ईश्वर की रचना माना जाता है और इसलिए कोई भी कला एक–दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। जिस प्रकार शिव से नृत्य एवं संगीत का उद्भव हुआ, विष्णु से चित्रकला एवं मूर्तिकला उत्पन्न हुई और रूद्र विश्वकर्मन से वास्तुकला उत्पन्न हुई।

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

चन्द्रशेखर जोशी

भारतीय संस्कृति के विषय में जो विचार–विभ्रम फैला हुआ है, उसको दूर करने के लिए तथा आगे इस ग्रन्थ में उसकी प्रगति और विकास के विषय में जो विचार हम प्रस्तुत करना चाहते हैं, उनको ठीक–ठीक समझने के लिए अपने मत में भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण को यहाँ प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इसके बिना अगली विचार–पद्धति के प्रति बौद्धिक सहानुभूति के स्थान में पग–पग पर भ्रम और सन्देह उपस्थित होने की सम्भावना रहेगी। यहाँ हम भारतीय संस्कृति के विषय में कुछ मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। सबसे पहले हम भारतीय संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है, इस सिद्धान्त को लेते हैं– प्राचीन जातियों में अपनी प्रथाओं, अपने आचार–विचारों और अपनी संस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आनेवाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप में मानने की प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। अनेक धार्मिक या राजनीतिक प्रभाववाले वंशों की, यहाँ तक कि धार्मिक मान्यताओं से सम्बद्ध अनेक नदियों आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति की भावना के मूल में यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पड़ती है। भारतवर्ष में भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप में चिरकाल से चली आ रही है। हमारे शास्त्रों में वर्णित विविध विद्याओं और कलाओं की ब्रह्मा आदि से उत्पत्ति की भावना अथवा अनेक वंशों की दैवी उत्पत्ति की भावना उक्त प्रवृत्ति के ही स्पष्ट निदर्शन हैं।

इधर अंग्रेजी शासन के दिनों में विदेशी विचारधारा के आक्रमण के कारण हमारे धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचारों में जो उथल–पुथल दिखाई देने लगी थी,उसकी प्रतिक्रियां के रूप में उपर्युक्त प्रवृत्ति को और भी समर्थन और प्रोत्साहन दिया गया है। इसमें सबसे बड़ा हाथ प्रायेण उन रूढ़िवादी लोगों का रहा है, जो अपने संकीर्ण स्वार्थों या अन्धविश्वासों के कारण साम्प्रदायिक वातावरण की परिधि से बाहर स्वच्छन्द खुले प्राणप्रद वायु में रहकर विचार ही नहीं कर सकते। इसी के परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता में प्रायः ऐसी भावनाबद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियाँ सदा से एक ही रूप में चली आयी हैं। दूसरे शब्दों में, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग स्वाभिमत भारतीय संस्कृति को, प्रगतिशील या परिवर्तनशील न मानकर, सदा से एक ही रूप में रहनेवाली स्थितिशील मानने लगे हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है। वैदिक तथा पौराणिक उपास्यदेवों की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता विषयक मान्यताओं में समय–भेद से होनेवाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। समय–भेद से ब्रह्मा आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है। 'यज्ञ' शब्द को लीजिए। वैदिक काल में इसका प्रयोग प्रायेण देवताओं के यजनार्थ किये जानेवाले कर्म–कलाप के लिए ही होता था। पर कालान्तर में अनेक कारणों से वैदिक कर्मकाण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता, वैदिक यज्ञों वह 'द्रव्य–यज्ञ' कहती है, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का भी उल्लेख करती है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार 'शिल्प–व्यवहार और पदार्थ–विज्ञान जोकि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको भी यज्ञ कहते हैं।' आचार्य विनोबा भावे का भूदान यज्ञ तो आज सबकी जिह्वा पर है। इसी प्रकार 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'आयुर्वेद', 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्रयुक्त 'वेद' शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता था। कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओं में विस्तृत मन्त्र–ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। उन शाखाओं में से अनेक का तो अब नाममात्र भी शेष नहीं है। यही 'वेद' शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है। इसी प्रकार श्वर्णश शब्द के भी विभिन्न प्रयोगों में समय–भेद से परिवर्तित होनेवाली वर्ण विषयक दृष्टियों का प्रभाव दिखाया जा सकता है। 'यज्ञ' आदि–जैसे महत्व के शब्दों का समय–भेद से होनेवाला भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारों के घात–प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होनेवाली भारतीय संस्कृति की प्रगति की ओर ही संकेत करता है। आचार–विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणों से, भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धान्त की पुष्टि की जा सकती है।

शास्त्रों की दुरधिगम कोठरियों में बन्द उस सन्देश को जनता की भाषा में, प्रायःजनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त–महात्माओं द्वारा सर्वसाधारण के लिए सुलभ किये जाने में, हमें उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास के लम्बे काल में ऐसे स्थल भी अवश्य आते हैं जबकि उसके रूप में होनेवाले परिवर्तन आपाततः विकासोन्मुख प्रगति को नहीं दिखलाते, तो भी वे उसकी स्थितिशीलता के स्थान में परिवर्तनशीलता को तो सिद्ध करते ही हैं। साथ ही, जैसे स्वास्थ्यविज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अरुचिकर होने पर भी हमारे स्वास्थ्य–विरोधी तत्त्वों को उभारकर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य में सहायक होती है, उसी प्रकार उन आपाततः अवांछनीय परिवर्तनों को समझना चाहिए। कभी–कभी उन परिवर्तनों के मूल में हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या अन्य सामयिक आवश्यकता भी काम

करती हुई दीखती है। इसलिए उन परिवर्तनों के कारण भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त में कोई क्षति नहीं आती। यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त केवल हमारी कल्पना नहीं है। हमारे धर्मशास्त्रों ने भी इसको मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। धर्मशास्त्रों का कलि–वर्ज्य प्रकरण प्रसिद्ध है। इसमें प्राचीन काल में किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग–प्रथा आदि का कलियुग में निषेध किया गया है। विभिन्न परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति के स्वरूप में प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं, इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रों के ही शब्दों में, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग में उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रों में स्पष्टतः मिलता है। धर्मशास्त्रों की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानों के भी मन में भारतीय संस्कृति स्थितिशील यह धारणा बैठी हुई है। भारतीय संस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावतः प्रगतिशील घोषित करें। उसी दशा में भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करने हुए अपने अन्तरात्मा की सन्देश–रूप मानव–कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढ़त हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नहीं, अपितु संसारभर के लिए, उन्नति और शान्ति के मार्ग को दिखाने में सहायक हो सकती है। यह कार्य हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य में है, पश्चाद्दर्शिता में नहीं, वहीं माना से हो सकता है। भारतीय संस्कृति–रूपी गंगा की धारा सदा आगे ही बढ़ती जाएगी, प नहीं लौटेगी। प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुनः उसी रूप में लौटकर नहीं आ सकता हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण में निहित है, हम उसके निर्माण में अपन प्राचीन जातीय सम्पत्ति के साथ–साथ नवीन जगत् में प्राप्य सम्पत्ति का भी उपयो करेंगे, यही भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का रहस्य और ह्रदय है भारतीय संस्कृति का दूसरा सिद्धान्त उसका असाम्प्रदायिक होना है। संस्कृत में प्राचीनकाल से एक कहावत चली आ रही है कि–

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् घ्

(अर्थात् श्रुतियों और स्मृतियों में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं। यही बात मुनियों के विषय में भी ठीक है।)

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायों का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है। इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है। कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान–प्रधान, कोई कर्म–प्रधान और कोई भक्ति या भावना–प्रधान होता है। फिर समय–भेद तथा देश–भेद से भी मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद देखा जाता है। रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहनेवालों के और बंगाल जैसे नमी–प्रधान प्रदेश में रहनेवालों के स्वभावों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। ऐसे ही कारणों से भारतवर्ष–जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायों का होना बिलकुल स्वाभाविक है। एक सीमा तक यह सम्प्रदाय–भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है। यह तभी होता है जबकि उन विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर संघटित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो। परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है की स्वार्थबुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित, संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है। भारतीय संस्कृति की आन्तरिक धारा में चिरन्सन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है, तो भी भारतवर्ष में सम्प्रदायों का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषों से युक्त ही रहा है। आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अंशों में धर्मान्धता के कारण भी अपने–अपने नेताओं द्वारा सम्प्रदायों का और स्वभावतः शान्ति–प्रधान, पर भोली–भाली जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है।

साम्प्रदायिक विद्वेष–भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थों पर भी कहाँ तक अवांछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको 'मध्वतन्त्रमुखमर्दन', 'माध्वमुखभंग', 'दुर्जन–करि–पंचानन' जैसे ग्रन्थों के नामों से ही मिल जाता है। इन नामों में विद्वज्जन–सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नहीं है। दर्शनशास्त्र का विषय ऐसा है जिनका प्रारम्भ ही वास्तव में साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग, साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण में एकत्र सम्मिलित हो सकते हैं। परन्तु भारतवर्ष में दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण साम्प्रदायिक संघर्ष के वातावरण में ही हुआ था। इसलिए उन–उन सम्प्रदायों से सम्पृक्त विभिन्न दर्शनों के साहित्य से भी प्रायः साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है। न्याय–वैशेषिक दर्शनों का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है। योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है। एक सांख्य दर्शन ऐसा है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है। साम्प्रदायिक भावना की तरह ही जाति–पांति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज में वैषम्य का कारण रहा है। अब भी नाना रूपों में हमारे समाज में फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्ताओं को 'अन्तःशाक्ता बहिःशैवाः सभा–मध्येच वैष्णवाः', इस उक्ति का लक्ष्य बनाता रहता है। इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार–संकीर्णता और परस्पर–संघर्ष की भावना से परिपूर्ण सम्प्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति–पाँति के भेदभाव से जर्जरित भारतीय जनता में एकजातीयता के नवीन जीवन का संचार करने के लिए मानो एक उपास्य देव के रूप में एकमात्र प्रगतिशील तथा असांप्रदायिक भारतीय संस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में कृषि विज्ञान

रितु मिश्र

प्राचीन काल से ही कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की धुरी बना हुआ है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में लोगों के आर्थिक जीवन में कृषि का बहुत अधिक महत्व था। यही कारण है कि वैदिक ग्रन्थों में स्थान–स्थान पर वर्षा के लिए देवताओं तथा नदियों से भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए प्रार्थनाएँ मिलती हैं। उपनिषदों में हमें सर्वप्रथम 'अन्न बहु कुर्वीत' का संदेश सुनाई देता है। आज भी अनेक औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगतियों के होते हुए कृषि पर मानव समाज का अवलम्बन बना हुआ है।

सिंधुनदी के काँठे के पुरावशेषों के उत्खनन के इस बात के प्रचुर प्रमाण मिले है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व कृषि अत्युन्नत अवस्था में थी और लोग राजस्व अनाज के रूप में चुकाते थे, ऐसा अनुमान पुरातत्वविद् मोहनजोदड़ो में मिले बड़े बड़े कोठरों के आधार पर करते हैं। वहाँ से उत्खनन में मिले गेहूँ और जौ के नमूनों से उस प्रदेश में उन दिनों इनके बोए जाने का प्रमाण मिलता है। भारत के निवासी कृषि कार्य से पूर्णतः परिचित थे, यह वैदिक साहित्य से स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में कृषि संबंधी अनेक ऋचाएँ है जिनमें कृषि संबंधी उपकरणों का उल्लेख तथा कृषि विधा का परिचय है। ऋग्वेद में क्षेत्रपति, सीता और शुनासीर को लक्ष्य कर रची गई एक ऋचा है जिससे वैदिक आर्यों के कृषि विषयक के ज्ञान का बोध होता है। भारत में ऋग्वैदिक काल से ही कृषि पारिवारिक उद्योग रहा है और बहुत कुछ आज भी उसका रूप है। लोगों को कृषि संबंधी जो अनुभव होते रहे हैं उन्हें वे अपने बच्चों को बताते रहे हैं और उनके अनुभव लोगों में प्रचलित होते रहे। उन अनुभवों ने कालांतर में लोकोक्तियों और कहावतों का रूप धारण कर लिया जो विविध भाषा–भाषियों के बीच किसी न किसी कृषि पंडित के नाम प्रचलित है और किसानों जिह्वा पर बने हुए हैं। हिंदी भाषा–भाषियों के बीच ये घाघ और भड्डरी के नाम से प्रसिद्ध है। उनके ये अनुभव आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिप्रेक्ष्य में खरे उतरे हैं। गृह्य एवं श्रौत सूत्रों में कृषि से संबंधित धार्मिक कृत्यों का विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। उसमें वर्षा के निमित्त विधि–विधान की तो चर्चा है ही, इस बात का भी उल्लेख है कि खेत में लगे अन्न की रक्षा कैसे की जाए। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कृषि संबंधी अनेक शब्दों की चर्चा है जिससे तत्कालीन कृषि व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में कथन है कि अश्विन देवताओं ने मनु को हल चलाना सिखाया। ऋग्वेद में एक स्थान पर अपाला ने अपने पिता अत्रि से खेतों की समृद्धि के लिए प्रार्थना की है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में हांसिया (दात्र, सृणि), कोठार (स्थिति), गठ्टर (वर्ष), चलनी (तिउत), सूप (शूर्प), अनाज का ओसने वाला (धान्यकृत) आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में खेती की प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में पाँच प्रकार के चावल का उल्लेख है। महाब्राहि, कृष्णव्रीहि, शुक्लव्रीही, आशुधान्य और हायन। अथर्ववेद में यह उल्लेख मिलता है कि सर्वप्रथम पृथुवेन्य ने ही कृषि कार्य किया था। शतपथ ब्राह्मण मे कृषि विषय पूरी प्रक्रिया की जानकारी मिलती है। इसी के खेत जोतने के लिए कर्षण, बोने के लिए (वपन), कटाने के लिए (कर्तन) तथा माड़ने के लिए मर्दन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में बैलों को हल में जोते

जाने का वर्णन है तथा शतपथ ब्राह्मण में बैलों को हल द्वारा चलाने की बात है। अथर्ववेद में कृषि दासियों का उल्लेख मिलता है, इसी में सिंचाई के लिए नहर खोदने तथा टिड्डियों द्वारा फसल नष्ट होने की जानकारी मिलती है। श्रमिक वर्ग के अन्तर्गत भूसी साफ करने वाले को उपप्रक्षणी कहा जाता था। खिल्य भूमि की माप ईकाई थी। भूमिकर व्यक्तिगत स्वामित्व शुरू हो गया था जिसके लिए –उर्वरासा, उर्वरापत्ति, क्षेत्रसा और क्षेत्रपति शब्द वैदिक संहिताओं में मिलते हैं। पशुओं के कानों पर स्वामित्व के चिह्न लगा दिये जाते थे। गाय को अवट कर्णी कहा जाता था। वैदिक काल में राज कोई स्थायी सेना नहीं रखता था। युद्ध में विजय की कामना से राजा प्रजा के साथ एक ही थाली में भोजन करता था।

उत्तर–वैदिककाल में मगध और अंग के इलाकों में फावड़ा से भूमि खोदकर कुआँ और तालाब (बावड़ी) बनाए जाते थे। कृषि को बाढ़ से बचाने के लिए नदी–जलप्रवाह को दूसरी दिशा में ले जाने के लिए बस से भूमि खोदकर नवीन मार्ग बनाए जाते थे। चूहे, पक्षी, मच्छर, कीड़े, हिरण, गोह आदि से फसल की सुरक्षा के लिए सीसा में लोहे का चूर्ण मिलाकर चारों तरफ रख दिया जाता था। गाय बाँधने का खूँटा खैर की लकड़ी का बनता उत्तर–वैदिककाल में पके हुए धान–फसल को काटने के लिए दराँती का प्रयोग किया जाता था। तीक्ष्ण धारवाले लोहे के फाल (शाल्य) से खेत जोते जाते थे। गाड़ा (दुर्दुभी) चमड़े से मढ़ा जाता था। इसे बजाकर जंगली जानवरों को भगाया जाता था। लोहे की कुदाल गोड़ाई करने में प्रयोग की जाती थी। मूसल से धान कूटकर चावल निकाले जाते थे। कुदाल में बाँस या उदुंबर की लकड़ी से एक हाथ का हत्था लगाकर प्रयोग में लाया जाता था। कृषि में कुल्हाड़ी (परशु) का प्रयोग उत्तर वैदिककाल में किया जाता था। वैदिक काल में वर्ष और ऋतुओं को आपसी अनियमितताओं को दूर करने के उद्देश्य से अधिमास सम्बन्धी परिकल्पना का विकास वैदिक काल में हो चुका था। ऋग्वेद में सर्वप्रथम सूर्यग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है किन्तु इसके वैज्ञानिक कारणों की चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं है। ग्रहण से राहु–केतु की कथा वैदिककाल में प्रचलित थी। कृषि से सम्बद्ध उपकरण कुल्हाड़ी (परशु) और कृषि के प्रारम्भ होने का संकेत ऋग्वेद के 9वें एवं 10वें मंडल में है। मंडल में कुआँ का उल्लेख तथा हल और बैल से खेती करने की चर्चा है। तिल, उड़द, गेहूँ, चावल, जौ, चना आदि पैदा करने की कृषि तकनीक यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में वर्णित है। जहाँ भूमि, श्रमिक और सिंचाई एक साथ उपलब्ध रहे हों वहाँ अतिरिक्त उत्पादन की गुंजाइश थी। बौद्धग्रन्थों में ब्रीहि और महीन किस्म शालि में अन्तर किया गया है। उत्तर–वैदिककाल और बुद्ध के जमाने में पाँच सौ से अधिक हलों द्वारा खेत जोते जाते थे। इसमें वेतनभोगी मजदूरों का समूह काम करता था। जातक में वर्णन है कि मचलग्राम में तीस कुल रहते थे और खेती का काम करते थे। प्रत्येक कुल से एक–एक आदमी मिलकर एक साथ प्रातःकाल उठकर वसूला वहाँ (वासी), कुल्हाड़ा (पुरुष) तथा मूसल हाथ में लेकर चौरास्तों पर जाकर, मूसल से पत्थरों को रास्ते से उलटकर हटा देते थे। गाड़ियों के अक्षों में बाँध कर वृक्षों को हटाते और ऊँच–नीच बराबर करते थे। वे पुल बनाते, पुष्करिणियाँ खोदते और शालाएँ बनाते थे। अर्थशास्त्र में सरकारी खेतों का जिक्र है जिनमें गुलाम, मजदूर और कैदी काम करते थे। मौर्यों के बाद बटाईदारी और ऋण दासता महत्वपूर्ण श्रम के रूपों में विकसित हुई। गुप्तकाल में बड़ी कृषि भूमि के प्रमाण नहीं मिलते हैं। केतु में वर्षा के जल से अनाज की खेत को सेतु और केतु नामक दो भागों में विभक्त किया गया है, सेतु उत्पत्ति होती थी। लाट देश में वर्षा से, सिन्धु देश में नदी से, द्रविड़ देश में तालाब से और उत्तरापथ में कुओं से सिंचाई की जाती थी। कृषि में कुशल रहनेवाला परिवार कृषि पराशर कहा जाता था। आवश्यकचूर्णी में दो प्रकार की भूमि की चर्चा है। काली भूमि को उद्घाट और पथरीली भूमि को अनुद्घाट कहा गया है। काली भूमि में अत्यधिक वर्षा होने पर भी पानी वहीं का वहीं रह जाता था, बहता नहीं था। सौ निवर्तन अर्थात् चालीस हजार वर्ग–हाथ भूमि जोती जा सकती थी। जैनसूत्रों में हल, कूलिप और नंगल नाम के हल–यंत्रों का उल्लेख मिलता है। कुदाली (कुदाल) से खोदने का काम होता था। कलमशालि (चावल) पूर्वीय प्रान्तों में पैदा होता था। वर्षा होने से छोटी–छोटी क्यारी बनाकर चावलों (शालि अक्षत) को खेतों में बोया जाता था, फिर दो–तीन बार करके उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपते थे। स्थानांग में चार प्रकार की खेती बताई गई है–वापिता अर्थात धान्य (अनाज) को एक बार बो देना, परिवापिता अर्थात् दो–तीन बार करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपना, निविदा अर्थात् खेतों की घास आदि निराकर धान्य बोना और परिनिंदिता अर्थात् दो–तीन बार घास आदि निराना। पके धान तेज दतिया से काट लिया जाता था। फिर उन्हें हाथ से मलकर कोरे घड़ों में भरकर रख देते थे। इन घड़ों को लीप–पोतकर उन और पर मुहर लगा, उन्हें कोठार में रख दिया जाता था। गंजशाला में अनाज कूटे जाते थे। ओखली में चावल छाँटा जाता था। सुप द्वारा अनाज साफ किया गन्ना कोल्हुओं में पेरा जाता था। इस यंत्र को महाजन्त एवं कोल्लुक कहते थे। जिस स्थान पर गन्ना पेरा जाता उस स्थान को यंत्रशाला कहते थे। बंगाल में दो किस्म के गन्ने होते थे–पीला (पुण्ड) और काला बैंगनी या काला जिसे काजोलि या कजोली कहते थे। पुण्डू से गंगा के पूर्व में स्थित पुण्डप्रदेश तथा कजोली से गंगा के पश्चिम में स्थित कजोलक नाम पड़ा। कच्चे आम को पकाने के लिए उसे घास–फूस अथवा भूसे के अन्दर रखकर गरमी पहुँचाई जाती जिससे वे जल्द ही पककर तैयार हो जाते थे। इस विधि को उधनपयायाम कहा गया है। कुछ अन्य फलों को धुआँ देकर पकाया जाता। इसके लिए पहले एक गड्ढा खोदकर उसमें कड़े की आग भर दी जाती थी। इस गड्ढे के चारों ओर गड्ढे बनाए जाते और उन्हें कच्चे फलों से भर दिया जाता था। गुप्तकालीन कृषि विज्ञान की जानकारी वृहत्संहिता से प्राप्त होती है।

भरत पुत्र 'तक्ष' का नगर 'तक्षशिला'

राजेन्द्र शर्मा

तक्षशिला भारत का एक प्राचीन और महत्वपूर्ण विद्या केन्द्र तथा गांधार प्रान्त की राजधानी। रामायण में इसे भरत द्वारा राजकुमार तक्ष के नाम पर स्थापित बताया गया है, जो यहाँ का शासक नियुक्त किया गया था। जनमेजय का सर्पयज्ञ भी इसी स्थान पर हुआ था। विद्यार्थी सोलह–सत्रह वर्ष की अवस्था में यहाँ शिक्षा के लिए प्रवेश करते थे। एक शिक्षक के नियंत्रण में बीस या पच्चीस विद्यार्थी रहते थे। शिक्षकों का निरीक्षक दिशाप्रमुख आचार्य (दिसापामोक्खाचारियॉ) कहलाता था। काशी के एक राजकुमार का भी तक्षशिला में जाकर अध्ययन करने का उल्लेख एक जातक कथा में है। तक्षशिला विश्वविद्यालय वर्तमान पाकिस्तान के रावलपिडी से 18 मील उत्तर की ओर स्थित था। जिस नगर में यह विश्वविद्यालय था उसके बारे में कहा जाता है कि श्रीराम के भाई भरत के पुत्र तक्ष ने उस नगर की स्थापना की थी। यह विश्व का प्रथम विश्विद्यालय था।

जबकि विश्व का दूसरा विश्विद्यालय नालंदा विश्वविद्यालय हैं। जो कि मगध में वर्तमान बिहार राज्य के नालंदा जिला में स्थित हैं। तक्षशिला की स्थापना सातवीं ईसापूर्व में की गई थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय में, पूरे विश्व के 10,500 से अधिक छात्र अध्ययन करते थे। यहाँ 60 से भी अधिक विषयों को पढ़ाया जाता था। 326 ईस्वी पूर्व में विदेशी आक्रमणकारी सिकन्दर के आक्रमण के समय यह संसार का सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ही नहीं था, अपितु उस समय के चिकित्सा शास्त्र का एकमात्र सर्वोपरि केन्द्र था। तक्षशिला विश्वविद्यालय का विकास विभिन्न रूपों में हुआ था। इसका कोई एक केन्द्रीय स्थान नहीं था, अपितु यह विस्तृत भू भाग में फैला हुआ था। विविध विद्याओं के विद्वान आचार्यों ने यहाँ अपने विद्यालय तथा आश्रम बना रखे थे। छात्र रुचिनुसार अध्ययन हेतु विभिन्न आचार्यों के पास जाते थे। महत्वपूर्ण पाठयक्रमों में यहाँ वेद–वेदान्त, अष्टादश विद्याएँ, दर्शन, व्याकरण, अर्थशास्त्र, राजनीति, युद्धविद्या, शस्त्र–संचालन, ज्योतिष, आयुर्वेद, ललित कला, हस्त विद्या, अश्व–विद्या, मन्त्र–विद्या, विविद्य भाषाएँ, शिल्प आदि की शिक्षा विद्यार्थी प्राप्त करते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार पाणिनी, कौटिल्य, चन्द्रगुप्त, जीवक, कौशलराज, प्रसेनजित आदि महापुरुषों ने इसी विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की। तक्षशिला विश्वविद्यालय में वेतनभोगी शिक्षक नहीं थे और न ही कोई निर्दिष्ट पाठयक्रम था। आज कल की तरह पाठयक्रम की अवधि भी निर्धारित नहीं थी और न कोई विशिष्ट प्रमाणपत्र या उपाधि दी जाती थी। शिष्य की योग्यता और रुचि देखकर आचार्य उनके लिए अध्ययन की अवधि स्वयं निश्चित करते थे। परंतु कहीं–कहीं कुछ पाठयक्रमों की समय सीमा निर्धारित थी। चिकित्सा के कुछ पाठयक्रम सात वर्ष के थे तथा पढ़ाई पूरी हो जाने के बाद प्रत्येक छात्र को छः माह का शोध कार्य करना पड़ता था। इस शोध कार्य में वह कोई औषधि की जड़ी–बूटी पता लगाता तब जाकर उसे डिग्री मिलती थी। अनेक शोधों से यह अनुमान लगाया गया है कि यहाँ बारह वर्ष तक अध्ययन के पश्चात दीक्षा मिलती थी। 500 ई.पू. जब संसार में चिकित्सा शास्त्र की परंपरा भी नहीं थी तब तक्षशिला आयुर्वेद विज्ञान का सबसे बड़ा केन्द्र था। जातक कथाओं एवं विदेशी पर्यटकों के लेख से पता चलता है कि यहाँ के स्नातक मस्तिष्क के भीतर तथा आंतों तक का आपरेशन बड़ी सुगमता से कर लेते थे। अनेक असाध्य रोगों के उपचार सरल एवं सुलभ जड़ी बूटियों से करते थे। इसके अतिरिक्त अनेक दुर्लभ जड़ी–बूटियों का भी उन्हें ज्ञान था। शिष्य आचार्य के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करते थे। एक आचार्य के पास अनेक विद्यार्थी रहते थे। इनकी संख्या प्रायः सौ से अधिक होती थी और अनेक बार 500 तक पहुँच जाती थी। अध्ययन में क्रियात्मक कार्य को बहुत महत्व दिया जाता था। छात्रों को देशाटन भी कराया जाता था। शिक्षा पूर्ण होने पर परीक्षा ली जाती थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय से स्नातक होना उस समय अत्यंत गौरवपूर्ण माना जाता था। यहाँ धनी तथा निर्धन दोनों तरह के छात्रों के अध्ययन की व्यवस्था थी। धनी छात्रा आचार्य को भोजन, निवास और अध्ययन का शुल्क देते थे तथा निर्धन आश्रम के कार्य करते थे।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

मानव सभ्यता और अस्त्र-शस्त्र

प्राचीन काल भारतीय अस्त्र–शस्त्र विद्या में निपुण थे। उन्होंने अध्यात्म–ज्ञान के साथ–साथ आततायियों और दुष्टों के दमन के लिये सभी अस्त्र–शस्त्रों की भी सृष्टि की थी। यह शक्ति धर्म–स्थापना में सहायक होती थी। प्राचीन काल में जिन अस्त्र–शस्त्रों का उपयोग होता था। अस्त्र–शस्त्र उतने ही प्राचीन हैं जितनी कि–मानव सभ्यता। इनका जन्म मानव को अपनी सुरक्षा करने की भावना के साथ ही हुआ। समय के साथ–साथ और आवश्यकतानुसार इनका स्वरूप परिवर्तित और विकसित होता रहा है। इस पुस्तक की लेखिका श्रीमती शीला झुनझुनवाला विदुषी साहित्यकार हैं। इस पुस्तक में पुराण कलि के बाद सिंधु–सभ्यता और फिर गुप्त काल, मौर्य काल, मुगल काल, राजपूत राजाओं का समय और मराठा इतिहास में वर्णित अस्त्र–शस्त्रों की रोमांचक प्रगति–यात्रा के अतिरिक्त जनजातियों में उपयोग होते रहे हथियारों का भी क्रमानुसार उल्लेख किया गया है।

आजकल मारक और सामूहिक संहार के लिए प्रयुक्त होने वाले अस्त्रों का युग है, जिनके प्रयोग से मानव सभ्यता और विश्व के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो गया है। पुरातन काल में भी अनेक ऐसे ही मारक शस्त्रास्त्रों का वर्णन आता है जिनका उपयोग दिव्य शक्ति के रूप में किया जाता था। इस पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण देकर इसकी रोचकता बनाए रखी गई है। पुस्तक में लेखिका ने पौराणिक काल से मध्य–युगीन शस्त्रास्त्रों के बारे में विस्तृत जानकारी दी है। नव सभ्यता जितनी है, अस्त्र–शस्त्रों की कहानी भी उतनी ही प्राचीन है। वस्तुतः अस्त्र–शस्त्रों (बचाव के साधनों) का जन्म उसी समय प्रारंभ हो गया होगा जब मनुष्य ने अपने आस–पास के भय से परिचय पाया होगा और जंगली जानवरों आदि से बचाव की चेष्टा की होगी। यह आवश्यकता प्रारंभ में उसकी शरीरिक चेष्टाओं तक ही सीमित रही। वह हथियार की जगह अपने हाथ–पैर, दांतों और नाखूनों का उपयोग करता रहा। यह नहीं, इन साधनों से उसने प्रारंभ में अपनी अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति की। एक ओर वह भोजन के लिए इन सहज प्राकृतिक शक्तियों और साधनों का उपयोग करता था, दूसरी ओर जब उसके भोजन को छीनने की चेष्टा की जाती थी, तब बचाव में भी वह उन्हीं का आसरा लिया करता था। आदिम सभ्यता के विकास के साथ–साथ जब आदमी झुंडों में रहने लगा और झुंडों में ही भोजन की तलाश में यहाँ–वहाँ निकलने लगा, तब इन झुंडों में टकराहटें शुरू हुई। इन टकराहटों के दौरान ही उसने बचाव और आक्रमण दोनों ही स्थितियों के लिए हथियारों की जरूरत और अधिक महत्ता के साथ महसूस की। उस समय

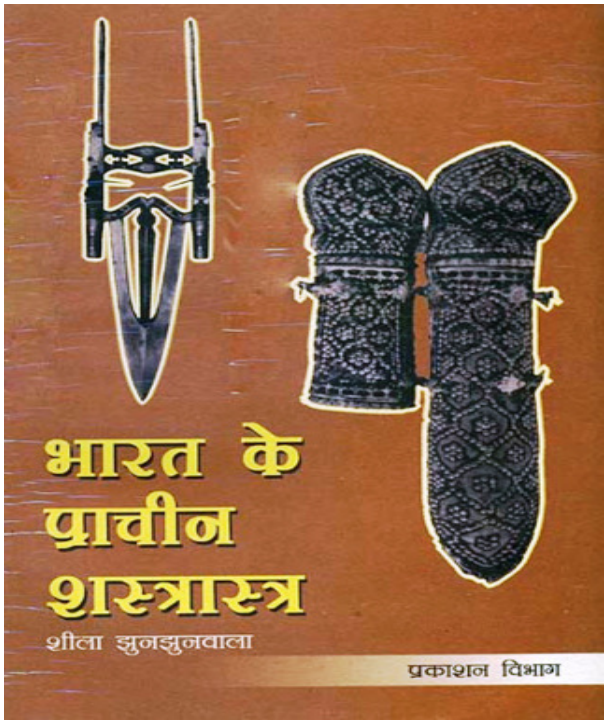

हथियार बनाने के लिए उसके पास पत्थर ही था। तब तक किसी धातु को वह खोज नहीं पाया था। इस प्रकार पाषाण युग का प्रारंभ हुआ। अनेक नृवंश शास्त्रियों के अनुसार मनुष्य की खोजी प्रवृत्ति का प्रारंभ संभवतः हथियार के निर्माण से ही हुआ। इस खोज की प्रवृत्ति और आवश्यकता के दौर ने उससे पत्थर के अनेक हथियारों–औजारों का निर्माण करवाया। इनमें विविध शक्लों में विविध पत्थरों को तराशना और पत्थर से ही तराश कर उनके बहु–उपयोगी औजार, हथियार बनाना उसने शुरू किया। पत्थर युग के हथियारों के विविध प्रकार और रूप पुरातत्वीय खोजों में पाए गए हैं। उनका काल निर्धारण भी हुआ है।

मोहनजोदड़ो–हड़प्पा की सभ्यता के अतिरिक्त ईसवी पूर्व रचित भारतीय पौराणिक ग्रंथों में अस्त्र–शस्त्रों के विविध रूप और प्रकारों का वर्णन, उनकी शक्ति और उपयोगिता की चर्चा, एक सीमा तक, उनकी प्रामाणिकता के साथ वर्णित है। पुस्तक में कम से अस्त्र–शस्त्रों की यही कहानी दी गई है। लेखिका ने प्रयत्न किया है की रामायण–महाभारत कालीन पौराणिक ग्रंथों में वर्णित विविध अस्त्र–शस्त्रों से लेकर मानव द्वारा आधुनिक युग में कदम रखने तक का अस्त्र–शस्त्र का संक्षिप्त इतिहास प्रामाणिकता के आधार पर पाठकों को सुलभ कराया जा सके।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com